Rajasthan Journal of Sociology

ISSN 2249-9334

Volume 12 October 2020

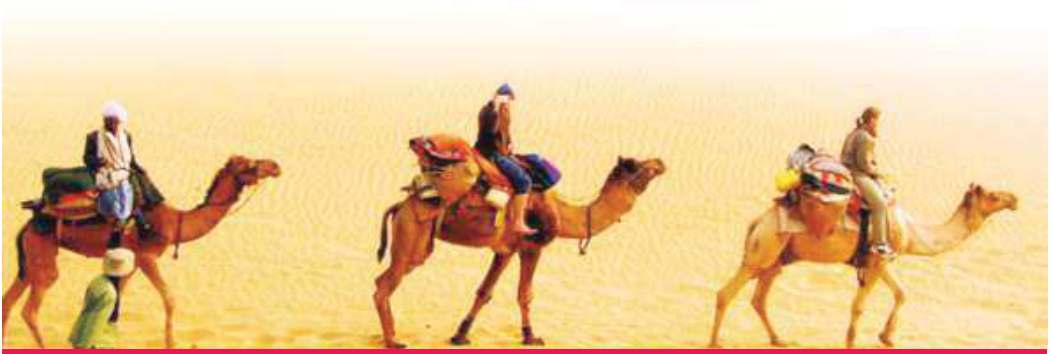

Peer Reviewed and UGC-CARE List Bilingual Journal of Rajasthan Sociological Association

Rajasthan Journal of Sociology
2020, Vol. 12

राजसत्ता, समाज और समाजशास्त्र [1]

आनंद कुमार

अनुरूपण एवं लिप्यंतरण – **पास्ल सिंह**

राजस्थान की समाजशास्त्र विद्या परम्परा के एक श्रेष्ठ प्रतीक, प्रो. ईश्वर मोदी की स्मृति में यह विमर्श बहुत ही खुशी की बात है। जब मुझे ईश्वर मोदी जी के परिजनों और राजस्थान समाजशास्त्र परिषद द्वारा अग्रज सदृश प्रो. मोदी की स्मृति में तीसरा व्याख्यान देने का आमंत्रण मिला तो मैंने इसको बिल्कुल कोई विलम्ब किये बगैर एक बहुत बड़े सम्मान और स्नेह के रूप में स्वीकार किया। प्रो. मोदी की व्यापक स्मृति, बुनियादी योगदान और उनकी रूचि को देखते हुए व्याख्यान के लिए ऐसा विषय चुना जाना जरूरी था, जिसमें मेरी भी थोड़ी-बहुत जानकारी-समझदारी हो और आपके लिए भी कुछ उपयोगी हो। इसलिए इस अवसर पर मैं 'राज्य-सत्ता, समाज और समाजशास्त्र' पर बात करना चाहूंगा।

राजसत्ता, समाज और समाजशास्त्र - ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

आज अगर हम भारतीय राजसत्ता, भारतीय समाज व्यवस्था और उसमें समाजशास्त्रियों की भूमिका के बारे में बात करें, तो तीन बातें सामने आती हैं। ये हमारे लिए शोध की चुनौती हैं क्योंकि भारतीय राजव्यवस्था का जबरदस्त बदलाव हो रहा है। आज से 72 साल पहले तक यहाँ औपनिवेशिक व्यवस्था थी, एक यंत्रवत राज्य-सत्ता थी, ऊपर से लदी हुई जिसकी उत्पत्ति में पराजय, विध्वंश, अपमान और सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक दमन का इतिहास था। जब 1857 की आजादी की पहली लड़ाई का तीन साल लम्बा सिलसिला ख़त्म हुआ तो 1860 में रानी विक्टोरिया ने भारत के लोगों के गुस्से पर ठंडा पानी डालते हुए एलान किया कि ईस्ट इंडिया कम्पनी के राज में बड़ी कमियां थीं; अतः अब से भारत का शासन इंग्लैंड की संसद की निगरानी में इंग्लैंड का राजवंश चलाएगा। हम आपके साथ वही बर्ताव करेंगे जो हम ब्रिटेन के लोगों के साथ करते हैं। हम आपको विश्वविद्यालय देंगे, न्यायालय देंगे, नगरीकरण करेंगे, औद्यौगीकरण करेंगे, आधुनिकीकरण करेंगे। परन्तु किया बहुत बुरा जिसको दादा भाई नौरोजी ने 'ड्रेनिंग ऑफ़ इंडियन रिसोर्सेज' कहा। भारतीय संपदाओं का दोहन किया। सारे यूरोप को औद्यौगिक क्रांति मिली और अंग्रेजी राज ने भारत को औद्यौगिक क्रांति और वैज्ञानिक क्रांति के प्रकाश से दूर अँधेरे में रखा। कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में तीन विश्वविद्यालय जरूर बनाए, लेकिन नीचे से ऊपर तक पूरी शिक्षा व्यवस्था को ध्वस्त कर दिया। एक विदेशी भाषा को माध्यम के तौर पर ले आये। फारसी, संस्कृत, तमिल, बांग्ला, उर्दू, हिंदी में चलने वाली ज्ञान परम्पराएँ सूख गयीं। इस प्रकार नागरिकों पर अविश्वास के आधार पर राजसत्ता

1 आर.एस. ए. कांफ्रेंस 2019 के दौरान दिनांक 12.10.19. प्रो. आई. पी. मोदी स्मृति व्याख्यान-3 के रूप में सनातन धर्म राजकीय महाविद्यालय, ब्यावर (अजमेर) में दिए गए व्याख्यान का अनुरूपित लिप्यंतरित अंश

बनी, औपनिवेशिक राज्य-सत्ता और वो चली 1860 से 1947 तक। उस समय का क्रिमिनल प्रोसीजर कोड, इंडियन पीनल कोड तो आज भी हमारी जिंदगी में मौजूद है।

राजसत्ता एवं समाज के लोकतंत्रीकरण की अनिवार्यता

1947 के बाद से हमारी जिंदगी का बहुत बड़ा हिस्सा एक महासंक्रमण से गुजर रहा है। औपनिवेशिकता से लोकतांत्रिकता की तरफ। जो पहली चीज हम समाजशास्त्री देख रहे हैं, जो दलों के दायरे से ऊपर है, विचारधाराओं के दायरे से अलग है, इतिहास का हिस्सा है, विश्व व्यवस्था का हिस्सा है, वो है- भारतीय सत्ता का लोकतान्त्रीकरण। हर चुनाव के साथ, हर आन्दोलन के साथ, हर अभियान के साथ भारतीय राज्य-सत्ता का लोकतांत्रीकरण हो रहा है लेकिन अभी भी पूरा नहीं हुआ है। जितनी दूरी है जनता और नेता में, जितनी दूरी है अफसर और जनता में, जितनी दूरी है न्यायाधीश और जनता में वो दूरी हमारी राज्य-सत्ता की कृत्रिमता कहिये या विदेशीपन कहिये; उसका अवशेष है, उसको जल्दी से जल्दी ख़त्म करने की जरूरत है। कभी रफ़्तार बढ़ जाती है लोकतांत्रीकरण की, कभी घट जाती है।

जब भारत में इमरजेंसी लगी 1975-77 में तो लोकतांत्रीकरण की प्रक्रिया एकाएक रूक गयी और जब 1977 में, 1989 में, 1996 में या अभी राजस्थान में पिछले दिनों जो चुनाव हए अर्थात् जब लोगों के वोट की ताकत से सरकारें बनती और बिगड़ती हैं तो लगता है कि लोकतंत्र आगे बढ़ रहा है। दस वर्ष हुकूमत थी कांग्रेस की लेकिन 2014 में वोट पड़ा, गिना गया, देश ने सुना टेलीविजन पर कि बहुमत दूसरे मोर्चे का होगा। उसका नाम था नेशनल डेमोक्रेटिक अलायंस। एक ईंट नहीं चली, एक बन्दूक नहीं चली, एक बम नहीं फेंका गया और दिल्ली की पूरी की पूरी हुकूमत दूसरे गठबंधन के हाथ में चली गयी। दुनिया को भी ये ताज्जुब है कि कैसे भारत के लोग जहाँ अभी भी लगभग एक-चौथाई लोग निरक्षर हैं, 77 फीसदी लोग बेहद गरीब हैं, साढ़े चार सौ से ज्यादा पार्टियाँ हैं लेकिन चुनाव का अभ्यास कर लेते हैं। यह लोकतांत्रीकरण है।

यह लोकतांत्रीकरण जीवन शैली का लोकतांत्रीकरण होना भी है। परिवार के अन्दर सहमति और संवाद की संस्कृति बनानी ज़रूरी है। ईश्वर मोदी के परिवार को मैंने नजदीक से देखा था। एक बार जयपुर में भारतीय समाजशास्त्र परिषद् का शानदार अधिवेशन होना था लेकिन वहां तीन बुलाये और तेरह आये। लोग ज्यादा आ गए तो मोदीजी की शरण में हम लोग गए और उनके घर का दरवाजा खुला तो उनके पिताजी, 90 बरस की आयु में, एक कोने की चौकी पर अपना हिसाब-किताब कर रहे थे। बीच की बैठक मोदीजी और उनकी पत्नी और हम सब लोगों के लिए था। उधर का कमरा बहु, बेटी और बेटों के लिए। तीन पीढ़ियाँ साथ रहती थीं लेकिन परिवार में जनतंत्र था। मोदी साहब घर के मुखिया जरूर थे लेकिन उनकी ज्यादा चलती नहीं थी, क्योंकि घर में हर बात की पर चर्चा होती थी। ऐसे परिवार अभी भारत में कम हैं। परिवार के लोकतांत्रीकरण का अध्ययन करने की जरूरत है।

संस्थाओं का लोकतांत्रीकरण भी बेहद जरूरी है। जवाहरलाल नेहरू जब प्रधानमंत्री थे तो सदन जब शुरू होता था तो स्कूल टीचर की तरह से प्रधानमंत्री जी कुर्सी पर लगातार बैठते थे चाहे सदन 7 बजे तक चले चाहे 8 बजे तक चले। दो मेंबर, पांच मेम्बर, सात मेम्बर की पार्टियों के नेता भी जब बोलते थे तो जवाहरलाल इतने ही ध्यान से सुनते थे जैसे नेता विरोधी दल बोल रहा हो। लोकतंत्र का अभ्यास ही है असहमति को सुनने की आदत। आज तो विधानसभाओं के भी सत्र छोटे हो रहे हैं और मुख्यमंत्री आये, बोले, चले गए। ये लोकतंत्र का विस्तार नहीं है। लोकतंत्र असहमति का आह्वान है, संवाद का आह्वान है, इसीलिए स्कूल, कॉलेज में वाद-विवाद प्रतियोगिताएं कराई जाती हैं कि आप एक साथ पक्ष और विपक्ष को सुनना सीखो।

सामंती समाज में राजा जो बोलता था, कानून होता था। राजा कभी गलत नहीं होता था। वही सामंती और औपनिवेशिक संस्कार जाने-अनजाने भारत की राज्यसत्ता व्यवस्था में जारी है। मंत्री, विधायक को तो अभी भी जनता का थोड़ा लिहाज है लेकिन कलक्टर साहब, थानेदार साहब को किस बात का डर है? प्रशासन का लोकतांत्रीकरण, न्यायपालिका का लोकतांत्रीकरण बेहद आवश्यक है। भारतीय भाषाओं के जरिये अगर पठन-पाठन नहीं होगा तो भारतीय समाज का अध्ययन अधूरा रहेगा। भारत की इतनी सुन्दर-सुन्दर भाषाएँ हैं लेकिन न्यायपालिका में, सर्वोच्च न्यायालय में, अभी भी भारत की किसी भी भाषा में न्याय की गुहार करने का अधिकार नहीं है। हमारी न्यायपालिका का लोकतांत्रीकरण होना बाकी है। हमारे प्रशासन का, खासकर के पुलिस का लोकतांत्रीकरण होना बाकी है। लेकिन एक बड़ी प्रक्रिया चल रही है, वो है हमारी सत्ता व्यवस्था का लोकतांत्रीकरण। कभी तेज रफ़्तार, कभी धीमी रफ़्तार, कभी-कभी पहिया उल्टी भी घूम जाती है जैसा मैंने अभी कहा इमरजेंसी में।

आजकल अखबार में पढने पर कई टिप्पणीकार कहते हैं कि आजकल के जो हालात हैं वो तो इमरजेंसी जैसे हैं या कुछ लोग लिखते हैं कि इमरजेंसी से भी बुरे हैं। हमारे कुछ मित्रों ने चिट्ठी लिखी प्रधानमंत्री को - प्रधानमंत्री जी, देश की हालत ठीक नहीं है, ध्यान दीजिये! बिहार में किसी ने अदालत में एक मुकदमा कर दिया कि ये सब देशद्रोही हैं। लोकतंत्र में असहमति का अधिकार तो बुनियाद है लोकतंत्र की। नहीं तो तुम्हारे में और सामंतशाही में फर्क क्या है? तुम्हारे में और विदेशी राज में फर्क क्या है? तिलक ने सम्पादकीय लिखा, खाली सम्पादकीय लेख अंग्रेजों के खिलाफ। छह साल की जेल हो गई। गांधीजी ने भाषण दिया, जवाहरलाल नेहरू ने भाषण दिया अंग्रेजी सरकार के खिलाफ, जेल हो गयी। भाषण की स्वतंत्रता, लिखने की स्वतंत्रता, आलोचना की स्वतंत्रता अगर नहीं है तो फिर वो लोकतंत्र नहीं है।

भारत लोकतंत्र के प्रति प्रतिबद्ध है और उसकी संविधान की कसौटी है। उसी से हमारे राज्यसत्ता का चरित्र ऑर्गेनिक स्टेट के जैसा समाज के साथ जीवंत बनाने वाला होगा। जब माँ रोएगी तो राजा का, प्रधानमंत्री का दिल भी दुःख से भर आएगा। जब भूख फैलेगी, जब किसान आत्महत्या करेगा तो कृषि मंत्री को लगेगा अब कुर्सी पर एक दिन भी बैठना ठीक नहीं है, जब नौजवान रोजगार

खोजने के लिए निकलेगा और घर लौटेगा तो रोजगार मंत्री पर सवाल उठेगा कि तुम मंत्री किस काम के हो? जीवंत, जागरूक, जिम्मेदार, पारदर्शी राज्य-सत्ता यूरोप में जनक्रांतियों से पैदा हुई। भारत के लोगों ने भी कम योगदान नहीं किया अंग्रेजी राज को हटाने का। इसलिए लोकतान्त्रीकरण की प्रक्रिया एक बड़ी पहचान है भारतीय राज्य-सत्ता की।

भारतीय समाज में एक दूसरी बात हो रही है जिसको श्रीनिवास साहब ने अपने जमाने में आधुनिकीकरण कहा था। अभी आधुनिकीकरण की चमक थोड़ी घट गयी है। आप लोग पढ़ाते ही हैं पोस्ट-मॉडर्न सोसाइटी के बारे में। गांधीजी ने, दयानंद सरस्वती ने, ज़ाकिर हुसैन ने, मौलाना आज़ाद ने, अम्बेडकर ने आधुनिकीकरण की जो पश्चिमी विरासत है, जो हमको अंग्रेजों के जरिये मिली, उसकी सीमाओं को तब भी बताया था। हमारी बनावट थोड़ी अलग है, पांच हजार साल से ये सिलसिला चल रहा है। ईश्वर है भी,नहीं भी है। तर्क भी है भावना भी है। जो लोग अपने माँ-बाप का ख़याल रखते हैं या जो माँ-बाप अपने बच्चों का ख़याल रखते हैं और कैरियर को दांव पर लगाते हैं उसमें क्या रेशनैलिटी है? कोई रेशनैलिटी नहीं है! आपका बच्चा पढ़े ना पढ़े, अपना कैरियर ठीक रखिये। और ये विवेकशीलता यूरोप में वहां तक चली गयी कि यूरोप की औरतों ने कहा कि तुम हमको माँ के रूप में सम्मान नहीं देते हो। जब हम माँ बनते हैं तो हमारे कैरियर में ब्रेक लग जाता है। मर्द आगे बढ़ जाता है औरत पीछे रह जाती हैं। इसलिए हम माँ नहीं बनेंगे, शादी भी नहीं करेंगे। साथ रहेंगे। इसलिए यूरोप में दो संस्थाएं - परिवार और विवाह, अन्दर से दरक गयीं क्योंकि नर-नारी समता का वहां पर ख़याल नहीं रखा गया। यहाँ जितने लोग बैठे हैं उन सबके आगे बढ़ने के पीछे उनके माँ-बाप की कुर्बानी है। उन्होंने अपनी जरूरतों का ख़याल नहीं रखा और हमको-आपको पढ़ने का मौका दिया और इसी वजह से हममें से बहुत से लोग हैं, जो अपनी जरूरतों से पहले अपने माँ-बाप की जरूरतों का ख्याल रखते हैं। एक सिनेमा बना है बागबां, जिसमें दादा का चश्मा टूट जाता है, अमिताभ बच्चन दादा का रोल करते हैं तो आप जानते ही हैं कितना असरदार रोल होगा! वे कहते हैं कि चश्मा बनवा दो। उनका जवान लड़का है कमाता है लेकिन वो झिड़कता है। माँ-बाप को बाँट दिया है लड़कों ने कि माँ यहाँ रहेगी और बाप वहां रहेगा और वो फ़ोन पर एक-दुसरे से बात करते हैं और गाते हैं, रोते हैं और लगता है कि भारत के आधुनिक मध्यम वर्ग में बूढ़े माँ-बाप की यही कहानी है। लेकिन ऐसा है नहीं, अभी ज्यादातर बचा हुआ है। जैसे ज्यादातर पति-पत्नी एक दुसरे का सम्मान करते हैं वैसे ज्यादातर परिवारों के लोग भी अपने माँ-बाप का ख्याल करते हैं लेकिन ये रैशनल नहीं है, ये तर्कसंगत नहीं है, ये भावना प्रधान है, ये मूल्य प्रधान है।

हम लोग जानते हैं कि हमारे ऊपर कई ऋण हैं- पहला ऋण कौनसा है? माँ-बाप का ऋण है अगर उन्होंने जन्म देकर पाला-पोसा नहीं होता तो हम कहाँ होते? तो उसको उतारना है। लोग कहते हैं कि इसी तरह गाँव का ऋण होता है, देश का ऋण होता है, गुरु का ऋण होता है। इन ऋणों को जब आप उतार लेंगे तब आप कहेंगे जीवन पूरा हुआ, सफल हुआ। यूरोप और अमरीका में तो ऐसी कोई अवधारणा ही नहीं है ऋण की। माँ-बाप और बच्चों के बीच के रिश्ते बिल्कुल तर्कसंगत हो गए हैं,

कोडीफाएड हो गए हैं। परिवार, समाज और गुरू-ये क्या बात है! एक्सचेंज रिलेशन है। हमने आपको फीस दिया हावर्ड में, शिकागो में, आपने हमको पढाया। उसके बदले में आपको सुपर सैलरी मिली, ऋण किस बात का? लेकिन हम ऐसा नहीं मानते । हम जानते हैं कि अपने बच्चों पर कम ध्यान दिया हमारे शिक्षकों ने और हम पर ज्यादा ध्यान दिया। हमारे शिक्षकों का तो ये हाल था जे.एन.यू. में कि योगेन्द्र सिंह जी के यहाँ जाना हो तो बिना अपॉइंटमेंट लिए चले जाइए। मैंने अमेरिका में भी पढाई की। बिना अपॉइंटमेंट लिए किसी टीचर से मिलना! मतलब भगवान् से मुलाक़ात हो जायेगी टीचर से मुलाक़ात नहीं होगी और वह भी एक टाइम स्लॉट के भीतर जो पंद्रह मिनट का होगा सुपरवाईजर से मिलने के लिए। और एक हफ्ता, दो हफ्ता, तीन हफ्ता आगे का टाइम मिलता था। और यहाँ रात में आपने कुछ पढा, कंफ्यूज हो गए, नींद नहीं आई, सबेरे पहुँच गए टी के ऊमन साहब, के एल शर्माजी, योगेन्द्र सिंह, पाणिनी या वेणुगोपाल जी के पास। वह परंपरा थोड़ी-बहुत हमने भी बनाए रखने की कोशिश की, आप लोग भी बनाए हुए होंगे।

समावेशी विकास

आधुनिकीकरण के बजाए एक दूसरी प्रक्रिया है जो सर्व समावेशी है और वो हर स्तर पर हो रही है। उसे हम सब ने ने एक मोटा सा नाम दिया है विकास यानि डेवलपमेंट। तीन "डी" हैं इस समय जो भारतीय राजव्यवस्था और समाज-व्यवस्था को जोड़ रहे हैं और कहीं-कहीं तोड़ भी रहे हैं। एक है डेमोक्रेटाइजेशन यानि लोकतांत्रीकरण, दूसरा है डेवलपमेंट यानि विकास। हमारे सपने विदेशी राज के कारण दो सौ साल से पराजित सपने हैं - शिक्षा के सपने, स्वास्थ्य के सपने, आवास के सपने, यातायात के सपने, आनंद के सपने, सुख के सपने। जो भी दिल्ली जाता है वह पूछता है - राजधानी तो हमारे देश की है लेकिन यहाँ हर सड़क पर इतनी चमक है, रात भर बिजली जलती है; और हमारे गावं में दो घंटे भी नहीं आती। दिल्ली में पीने का पानी चारों तरफ, हरियाली ही हरियाली। हमारे यहाँ खेत देखिये पानी ही नहीं। ये गैर बराबरी हम नहीं चलने देंगे। मैं कल इंदौर में था, दिल्ली से पहले का बसा हुआ इंदौर है। एक मायने में, भारत का मध्यबिंदु है, व्यापार का उद्योग का केंद्र है, कल आधे दिन बिजली नहीं थी। ऐसा और शहरों में भी होता होगा। जयपुर जाते हैं तो लगता है कि ब्यावर में ऐसा क्यों नहीं? शहर जाते हैं तो गाँव के बारे में सोचते हैं।

सवेरे जब हम लोग सो रहे होते हैं, आपके घर में एक बहन आती है बर्तन साफ़ करने, झाड़ू लगाने; वो रोज हमे देखती है, रोज उसके मन में ये सपना और जवान होता है कि हमारे साथ तो जो हुआ सो हुआ अपने बच्चे के साथ नहीं होने देंगे। हमसे महीने के पहले वो पैसा एडवांस लेती है कि उसे अपने बच्चे की फीस जमा करनी है। कहाँ पढ़ा रही है वो बच्चों को ? अंग्रेजी स्कूल में। सरकारी स्कूल में क्यों नहीं भेजा? क्योंकि वहां पढाई ठीक नहीं। बर्तन मांज करके, झाड़ू लगा करके, गंदे कपडे धो करके जो जिंदगी चला रहे हैं वो अपने बच्चे को पढ़ाना चाहते है। यह भी एक विकास है।

किसान विकास मांग रहा है, कसबे के लोग विकास मांग रहे हैं। एक दूसरी प्रक्रिया भी है उसकी आलोचना और समीक्षा की, जैसे हमारी बहन मेधा पाटकर। पहले जवाहरलाल जी के जमाने में विकास का मतलब था बड़े-बड़े बाँध बनाना सिंचाई के लिए, बिजली के लिए। लेकिन वैज्ञानिकों ने कहा कि विकास का ये रास्ता टिकाऊ नहीं है। ऐसे ही बड़ी कारें और बढता परिवहन बड़ी समस्या बनती जा रहीं है। विश्व के बीस बड़े सबसे प्रदूषित शहरों में से 13 भारत में हो गए। इसलिए अब दिल्ली के बच्चे होली और दिवाली पर पटाके नहीं बजाते वो पौधे बांटते हैं। माहौल बदल रहा है । विकास की आड़ में बायो डाइवर्सिटी ख़त्म हो रही है। तो जीवों के प्रति करुणा और मैत्री के लिए बहुत सारे नयी पीढ़ी के बच्चे शाकाहारी हो रहे हैं और जीवों पर दया करने का एक आन्दोलन चल रहा है। हम तो डोनाल्ड ट्रम्प को गले से गले लगाकर के, उनका कुछ वैभव अपने देश में लाना चाहते हैं लेकिन उस इलाके और संस्कृति की 16 साल की एक लड़की है थेटा, जो ट्रम्प को दुनिया की आँख में आँख डालकर कहती है कि आप हमारा भविष्य नष्ट कर रहे हो, सुधरो नहीं तो हम तुमको पलट देंगे। अतः विकास के कुछ स्याह पक्ष हैं, फिर भी विकास एक सर्वमान्य सपना है।

एक 90 बरस के वक़ील हैं शांति भूषणजी। प्रधान मंत्री, इंदिराजी के खिलाफ़ मुकदमा लड़कर के उन्होंने बड़ा एतिहासिक काम किया था। उन्होंने प्रधान मंत्री की कुर्सी हिला दी। फिर वो कानून मंत्री भी थे। अभी वे भ्रष्टाचार के खिलाफ़ अन्ना आन्दोलन के भी नेता थे । हम लोगों ने अन्ना आन्दोलन के बाद एक राजनीतिक विकल्प की जरूरत को पूरा करने के लिए, एक नयी पार्टी बनाने की सोची, तो उसकी नीतिनिर्माण पर चर्चा हो रही थी। राय मांगने पर शान्ति भूषणजी ने कहा कि सुनते हैं कि तुम लोग पानी और बिजली हाफ करोगे तो ये इतनी बिजली आएगी कहाँ से? उनके हिम्मती, आदर्शवादी वकील बेटे और हमारे दोस्त प्रशांत भूषण जी ने कहा, 'पापा, बिजली की खपत घटानी पड़ेगी। उन्होंने पूछा कि कैसे घटाओगे? तो कि दफ्तर में, अस्पताल में, स्कूल में तो ए. सी. चलेगा; घरों में ए.सी. पर टैक्स लगायेंगे और ए.सी. को हटायेंगे। वे जोर से हँसे और कहा कि तब तुम्हारी पार्टी को दस वोट भी नहीं मिलेंगे। हमारा ड्राईवर अभी कल हमसे बात कर रहा था कि एडवांस चाहिए, वह भी अपने घर में ए.सी. लगाना चाहता है। ये बात नहीं चलेगी कि तुम्हारे दफ्तर में ए.सी. चलेगा, स्कूल में चलेगा, अस्पताल में चलेगा पर घर में नहीं चलेगा। सबको टी. वी. चाहिए, सबको मोबाइल चाहिए, सबको ए.सी. चाहिए। विकास का ये जो सपना है, इसमें गांधीजी की सादगी शायद टिकाऊ विकास की तरफ ले जाए लेकिन फिलहाल तो उसपर बहस नहीं है। एक बार हम इसमें से गुजरना चाहते हैं।

तीसरा "डी" है डी-कोलोनाइज़ेशन। औपनिवेशिकता से मुक्ति। हमारे कुछ हिंदी विभाग के मित्रों ने शब्द निकाला वि-औपनिवेशीकरण यानि डी-कोलोनाइज़ेशन। हमारी संस्कृति, हमारी भाषाएँ, हमारी सोच, खासतौर पर हमारा अध्ययन-अध्यापन दो सौ बरस की अंग्रेजी गुलामी के कारण बहुत ज्यादा औपनिवेशिकता से प्रभावित और पीड़ित है। उसमें से निकलना है, अपनी अस्मिता को वापस पहचानना है।

स्वराज के साथ-साथ अस्मिता का नव-निर्माण

अस्मिता में सबकुछ अच्छा नहीं है। सतीप्रथा अच्छी नहीं है। ये अस्मिता का हिस्सा जरूर थी, उसके लिए आप अंग्रेजों को दोष नहीं दीजिये। छुआछूत अच्छी नहीं थी। उसके लिए भी अंग्रेजों को दोष मत दीजिये। लेकिन समग्र अस्मिता का नव-निर्माण करना स्वतंत्र भारत का अगला एजेंडा है। राजनीतिक आजादी मिली तो गांधीजी ने कहा अभी तीन आजादियों पर काम करना बाकी है - आर्थिक आजादी, सामाजिक-सांस्कृतिक आजादी और आध्यात्मिक आजादी। इसके लिए उन्होंने अपना एक रचनात्मक कार्यक्रम प्रस्तुत किया। इस बात से और लोग भी सहमत थे लेकिन विकल्प के रास्ते उनके अलग-अलग थे। बाबा साहब अंबेडकर का अलग रास्ता था, जवाहर जी का अलग था, समाजवादियों का अलग था, कम्युनिस्टों का अलग था, हिन्दू महासभा का अलग था, श्यामा प्रसाद मुखर्जी का अलग था, लेकिन समझ इस बात पर थी कि अभी खाली राजनीतिक स्वराज आया है, आर्थिक स्वराज, सामाजिक-सांस्कृतिक स्वराज, आध्यात्मिक स्वराज आना बाकी है और ये प्रक्रिया आगे बढ़ रही है।

हम लोगों ने भारतीय भाषाओं का सम्मान किया। आज से दस साल पहले अंग्रेजी और हिंदी दोनों माध्यम में समाजशास्त्र की पढाई होती थी पर आज 99 प्रतिशत पढाई हिंदी में हो गई। यही चर्चा अगर आप चेन्नई में करियेगा तो तमिल में हो गई। पंजाब से आए शिक्षक इससे सहमत होंगे कि वहां भी दबाव है कि पंजाबी में पढाओ। बंगाल में बांग्ला, आसाम में असमिया। ये वि-औपनिवेशीकरण का नतीजा है।

जातियों की अस्मिता जाग रही है। राष्ट्रीय आन्दोलन में भारतीयता के निर्माण के लिए हमने कहा कि जाति तोड़ो। जाति और राष्ट्रीयता साथ-साथ नहीं चल सकती। जाति तोड़ो आन्दोलन करीब-करीब समापन की ओर चला गया। समाजवादी जाति तोड़ो सम्मलेन करते थे। आज तीस साल हो गया समाजवादियों की ताकत यू.पी., बिहार में तो बढ़ी लेकिन जाति तोड़ो सम्मलेन कहीं नहीं होता। ये वि-औपनिवेशीकरण का एक हिस्सा है। हिन्दू-गौरव, मुसलमान- गौरव, सिक्ख-गौरव, और उसकी अति होती है अलगाववाद की तरफ जाने में। तमाम आदिवासी अपनी अस्मिता की जड़ें कहाँ-कहाँ खोज रहे हैं! पूरे उत्तर-पूर्व भारत में मिज़ो, नाग़ा, ख़ासी और फिर उसके अन्दर। अभी किसी ने कहा बत्तीस आदिवासी समाज हैं झारखण्ड में, और वो हर बत्तीस जब आन्दोलन चल रहा था झारखण्ड का तो सब झारखंडी थे, लेकिन जब से झारखण्ड बन गया है आदिवासी अस्मिता की शाखाएं बढ़ रही हैं। उसको लोकतंत्र के जरिये समेटना पड़ेगा। सबको अपनी पहचान का भरोसा रहेगा। किसी को इजाज़त नहीं होगी कि अपना घर इतना ऊँचा बना दो कि बाकी गाँव वालों को सूरज ना मिले। संतुलन रहेगा लेकिन आपका घर आपका रहेगा मेरा घर मेरा रहेगा। आपकी भाषा मेरी भाषा, आपकी जाति मेरी जाति, आपका धर्म मेरा धर्म, आपकी राजनीति मेरी राजनीति - यही लोकतंत्र का भरोसा है, यही संविधान का वादा है।

भारतीय समाज की चुनौतियाँ

आज भारतीय समाज और राज्य-सत्ता के बीच इन तीन प्रक्रियाओं के कारण एक नई कशमकश हो रही है। राज्य-सत्ता जिसके हाथ में है वो चाहते हैं कि हम उनपर भरोसा करें। उनको सब मालूम है, उनको वोट भी मिला है। समाज के लोग कहते हैं कि वोट से हर चीज़ का फैसला नहीं हो सकता ह। वोट से तो उसी के पक्ष में पड़ला भारी होगा जिसकी संख्या ज्यादा होगी। बाकी जो कम संख्या वाले हैं उनका क्या होगा? लोकतंत्र तो उनकी भी गारंटी देता है, उनकी भी सुरक्षा करता है। अकेला आदमी या औरत भी भारत के राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री के खिलाफ़ मुक़दमा कर सकता है। भारत के एक सौ तीस करोड़ लोग एक तरफ और मैं अकेला, लेकिन भारत का संविधान मेरी अभिव्यक्ति के अधिकार की गारण्टी देता है। होंगे आप सब लोग एक तरफ़, मैं नहीं मानता। सरकार कहती है ये तो अर्बन नक्सल है। इसको पकड़ लो। इसने तो हिन्दू देवी-देवताओं का विरोध कर दिया, मुसलमानों की आलोचना कर दी, सिक्खों की भावना को चोट पहुंचा दी - ये अभी कच्चा लोकतंत्र है। इसको मजबूत करना बाकी है। हिन्दू धर्म, इस्लाम धर्म, इसाई धर्म, सिक्ख धर्म ये क्या इतने कमज़ोर हैं कि पाँच कविताओं से, पन्द्रह उपन्यासों से, चार फिल्मों से उखड़ जाएंगे? कितनी हवाएं आई और चली गई। कईयों का असर हुआ, धर्मों में सुधार हुआ है और कई बेअसर रहे लेकिन हम आतंकित हैं अस्मिता की रक्षा को लेकर और राज्य-सत्ता जिसकी पकड़ में आ जाती है वो फिर बाकी समाज की अवहेलना करता हुआ, वोट बैंक के दबाव में मनमानी करने की कोशिश करता है।

अच्छी बात ये है कि भारत का संविधान साफ़-साफ़ शब्दों में लिखा गया और भारत की न्यायपालिका में अभी थोड़ी-बहुत हिम्मत बाकी है। उदाहरण के तौर पर उत्तर-प्रदेश में दो बड़ी पार्टियों में चुनाव का मुकाबला चल रहा है और वो वोट के मामले को सुलझाने के लिए, अपना दावा मजबूत करने के लिए अनुसूचित जाति नाम का जो वर्ग है उसमें कुछ लोगों को लाना चाहते हैं और कुछ लोगों को निकालना चाहते हैं। बिहार में एक जाति जो काबू में नहीं आ रही थी उसको तो कहा दलित और बाकी तेईस जातियों की एक नई केटेगरी बना दी और उसको कहा महा दलित। दलितों को बीच में बांटो और राज करो। उत्तर-प्रदेश में ऐसी सत्रह जातियाँ हैं। जब समाजवादी पार्टी जो यादवों और मुसलामानों के मोर्चे के रूप में चल रही है, वो जब सत्ता में आती है तो अति पिछड़ों में से सत्रह जातियों को अनुसूचित जाति घोषित कर देती है। जब बहुजन समाजवादी जो मूलतः दलितों के महागठबंधन की पार्टी है, सत्ता में आती है, तो वह उस सूची को ही खारिज़ कर देती है और फिर मामला जाता है उच्च न्यायालय में। राज-सत्ता समाजसत्ता की जननी नहीं है। ऐसा अंग्रेजी राज में होता था। समाजसत्ता से राजसत्ता निकलती है, ये लोकतंत्र है। लेकिन अभी हमारे शासकों को ये विवेक आना बाक़ी है।

आपने ये टेलीविजन पर सुना होगा जिस पार्टी का बहुमत हो जाता है उसका नेता टेलीविजन पर दावा ये करता है कि बहुमत हमारे साथ है, इसलिए हमको ये बदलाव करने का अधिकार मिला हुआ है। जब आलोचना होती है कि ये न्यायसंगत नहीं है, संविधान सम्मत नहीं है तो क्या जवाब

आता है? सपा, बसपा, कोंग्रेस, बीजेपी से कि अगर हम गलत हैं तो जनता हमको सबक देगी, आइये चुनाव में मुकाबला कर लेंगे। लेकिन चुनाव कैसा हो गया? पहले विधान सभा का चुनाव कुछ हज़ार में और लोक सभा का चुनाव दो-चार लाख में लड़ा जाता था, हारा-जीता जाता था। अब तो गाँव, पंचायत के प्रधान का चुनाव भी, अगर आप के पास कुछ लाख नहीं है, तो जीतना भूल जाइए। दक्षिण भारत में सांसद बनने के लिए सौ से सवा सौ करोड़ चाहिए। हम लोग सोचते हैं कि हमारे उत्तर भारत में बड़ा भ्रष्टाचार है, लेकिन दक्षिण भारत बहुत आगे निकल गया धन बल में और उसमें मीडिया भी जुड़ गया है। लोकतंत्र को ये चुनौती समाज से नहीं आ रही है, राज सत्ता से आ रही है, जो कि पिछले पच्चीस साल में, 1992 के बाद, नई आर्थिक नीतियों के बहाने वैश्विक पूंजी और वैश्विक पूंजीवाद भारत में आ गया और अब चुनाव के जीतने और हारने का मतलब बिलकुल बदल गया। पहले देशी पूंजीपतियों के हितों का मुकाबला था। अब अंतर्राष्ट्रीय पूंजीपतियों का मामला है। उनका अरबों का खेल बिगड़ जाता है। इसलिए वो बेहद महंगे चुनाव करा रहे हैं और चुनाव में जीत और हार का मतलब अब वो नहीं रह गया जो राजनीतिशास्त्र की क्लास में हम बताते थे। ये धनबल की अभिव्यक्ति है, जनबल की अभिव्यक्ति नहीं है और इसको सुधारना पड़ेगा।

1974 में जय प्रकाशनारायणजी ने कहा और 1977 में सरकार भी बदल गयी। जनता पार्टी के लोगों ने सोचा कि कांग्रेस तो हमेशा के लिए दफ़न हो गई। अब कोई समस्या नहीं है। क्या जरूरत है चुनाव सुधार करने की? फिर कांग्रेस पॉवर में आई तो इन्द्रजीत गुप्ता कमेटी, दिनेश गोस्वामी कमेटी, तारकुंडे समिति, चुनाव आयोग सबने बार-बार कहा। कांग्रेसियों को लगा कि जनता पार्टी तो आई, ढाई साल के बाद ख़त्म हो गयी अब कोई चुनौती है नहीं। क्षेत्रीय पार्टियाँ हैं। अब हमारा ही राज चलेगा। इस बार 2019 में जब चुनाव का नतीजा आया तो मुझे पढ़कर बहुत दुःख भी हुआ और हँसी भी आई जब कांग्रेस के अध्यक्ष ने कहा कि हमारे पास तो पैसा ही नहीं था। बी.जे.पी. ने हमको धनबल से पराजित कर दिया। तो मुझे लगा कि ये दवा तो तुम्हारी ही कंपनी ने पैदा किया था, खरीदकर उसने तुमको डबल डोज़ दे दिया, अब क्यों पछताते हो? अब पछताए होत क्या जब चिड़िया चुग गई खेत! सत्तर साल में बिगड़ते-बिगड़ते कहानी बहुत बिगड़ गई है। और आज भारतीय जनता पार्टी वालों को मैं कहना चाहता हूँ एक समाजशास्त्र के विद्यार्थी के नाते कि आप भी जनता के मुह पर इतना भरोसा मत करना, ये 'क्षणे दुष्टा और क्षणे रुष्टा' वाली जनता है। सारी दुनिया की जनता ऐसी ही है। दो साल वोट के बाद उसका विचार बदलने लगता है। कम से कम जब तक आपके पास सत्ता है, चुनाव सुधार करो। धनबल ऐसा जहर है जो किसी को नहीं छोड़ेगा। जिसकी थाली में डालोगे वही मर जायेगा और आखिर में भारतीय जनता पराजित होगी। ये धनबल बड़ी चुनौती है समाजसत्ता की और राजसत्ता की रिश्तेदारी में।

दूसरी बड़ी चुनौती है बहुसंख्यकवाद और अल्पसंख्यकवाद। कुछ लोग समझते हैं कि इससे ख़ाली मुसलामानों का इलाज़ हो जाएगा। समाजशास्त्र के विद्यार्थी ये जानते हैं कि हमारी अस्मिता के कई आधार हैं। एक तो धर्म है, लेकिन भाषा भी है। हमारा जो पडौसी है किस बात पर टूटा है? वो भी मुसलमान वो भी मुसलमान, लेकिन वो बांग्लाभाषी थे और ये उर्दू का दबाव डाल रहे थे। बांग्लादेश

टूटकर अलग हो गया और पाकिस्तान देखता ही रह गया। वही मस्जिदें, वही दरगाह, वही ईद और वही मुहर्रम लेकिन देश दो हो गए। तो भाषाई अल्पसंख्यक और भाषायी बहुसंख्यक, दबंग जातियाँ और कमजोर जातियाँ, क्षेत्रीयता। बम्बई में एक पार्टी है जिसका सामाजिक आधार ये है कि वो मराठियों के हित की रक्षा के नामपर गैर-मराठियों को वक्त-बेवक्त दो-चार डंडा लगाए। आजकल पुरबिया उनके निशाने पर हैं, पहले दक्षिण भारतीय थे। बीच में कुछ दिनों के लिए मुसलमान थे। उस संगठन का नाम शिवसेना है। जब-जब बम्बई में रेलवे की या और कोई नौकरी निकलती है, देशभर के लोग जाते हैं। वो कहते हैं मराठी मानुष के लिए खाली चाहिए। तो वहाँ पर मराठी बहुसंख्यक, गैर-मराठी अल्पसंख्यक। इसलिए बहुसंख्यकवाद भारतीय समाज की बनावट के लिए उचित नहीं है। थोड़ी देर के लिए जो मुसलामानों से नाराज़ हिन्दू होंगे, कई कारणों से उनको अच्छा लग सकता होगा लेकिन जब ये फैलेगा तो बहुत दूर तलक जायेगा। फिर ये भाषा की लड़ाई, क्षेत्र की लड़ाई, जाने क्या-क्या बातें निकलेंगी। इसलिए लोकतंत्र की कसौटी ये है कि बहुमत अल्पमत का कितना सम्मान करता है, अल्पमत की बातों को कितना ध्यान देता है।

भारतीय समाज का नव-निर्माण

भारतीय समाज का पुनर्निर्माण या नव-निर्माण समाजसत्ता की आख़िरी चुनौती है जिसको समाजशास्त्रियों को समझाना है । स्त्री, जाति और वर्ग के जो प्रश्न हैं जिसको अलग-अलग विमर्श कहते हैं- दलित-विमर्श, स्त्री-विमर्श, वर्ग-विमर्श। ये राजनीति के और राजसत्ता के एजेंडे के बाहर है। नेता की तो एक ही चीज़ में दिलचस्पी होती है या तो वहाँ वोट मिले और नहीं तो नोट मिले। अगर पैसा नहीं है और वोट नहीं है तो वह अपनी माँ की तेरहवीं में भी नहीं जाएगा। ये राजनीति की मजबूरी है। अतः जितने विवादास्पद सवाल हैं जिसमें अलोकप्रिय होने का खतरा है उसे राजसत्ता कभी उठाने का काम नहीं करेगी। यहीं समाजशास्त्रियों की बुनियादी महत्ता है।

मैं समाजशास्त्र में 35 साल से विद्यार्थी हूँ। मेरे देखते-देखते समाजशास्त्रियों के मन में एक कुंठा पैदा हो गई और हमारी पीढ़ी तो उससे बहुत पीड़ित है कि देश के बनाने में, सरकारों के बीच में, मीडिया में खाली एक ही सोशल साइंस की कीमत है प्लानिंग को लेकर के और वो है अर्थशास्त्री। उन्हीं को सब बुलाते हैं और इकोनॉमिक्स वाले भारत को कितना जानते हैं ये तो पता ही चल गया है सत्तर साल में। लुटिया डुबो के रख दिया है। और चुनाव के मौके पर एक दूसरा समाज विज्ञान है जिसकी चर्चा होती है वो है पोलिटिकल साइंस, क्या होगा क्या नहीं होगा। और अक्सर पोलोटिकल साइंस वालों का निशाना गलत लगता है। चुनाव के समय वे सेफोलिजिस्ट (चुनाव विश्लेषक) के रूप में जो भी घोषणा करते हैं, परिणाम उससे दूर जाकर गिरता है। आजकल मंदिर-मस्जिद के झगड़ों की वजह से कुछ इतिहासवालों की भी पूछ हो रही है। वहाँ मंदिर था कि नहीं था, ये कब आये, इन्होने क्या किया?-के गड्ढे खोदे जा रहे हैं। हम समाजशास्त्र वालों की कहीं कोई पूछ नहीं हैं। ये मंडल कमीशन से शुरू हुआ। जब मंडल कमीशन 1977 में बना तो उस में तीन समाज–वैज्ञानिकों को उसका सदस्य बनाया गया - एम.एन. श्रीनिवास, योगेन्द्र सिंह, बी. के. राय बर्मन। हमने योगेन्द्र सिंह

जी से पूछा, श्रीनिवास जी से तो मुलाकात नहीं हुई, बाद में राय बर्मन से भी पूछा था, तो पता चला कि पहली ही शुरुआती मीटिंग में बी.पी.मंडल जो कमेटी के मेम्बर चेयरमैन थे, उन्होंने कहा कि आप में से तो कोई पिछड़ा है नहीं, आपको हमारी पीड़ा क्या मालूम? आप ये जो सलाह दे रहे हैं कि सर्वे कराया जाए, फैक्ट लाया जाए, इस सबमें बड़ा टाइम लगेगा। हमको सब मालूम है, अब हमको रिपोर्ट लिखने दीजिये। उस दिन से जो राजनीतिक नेतृत्व द्वारा सामाजिक सुधार की नीतियां बनाई गईं, उसमें समाज-वैज्ञानिकों को हाशिये पर डाल दिया गया। जब श्रीनिवास, राय बर्मन, योगेन्द्र सिंह की कोई औकात नहीं मानी मंडल ने तो हम और आप किस खेत की मूली हैं?

समाजशास्त्र और समाजशास्त्रियों की भूमिका

अगले चुनाव को ध्यान में रखकर के जो नीतियां बनती हैं, वे सब नीतियां हाईकोर्ट और सुप्रीमकोर्ट में जाकर के रद्द हो जाती हैं, क्योंकि उसका वैज्ञानिक आधार नहीं है। राजस्थान में गुर्जर के आरक्षण को लेकर के जो हुआ, आपने देखा होगा। हर चुनाव के पहले गुर्जर आन्दोलन होता है। रेल रोक दी जाती हैं फिर घोषणा होती है। महाराष्ट्र में, आंध्रप्रदेश में, बंगाल में, बिहार में, मुसलमान आरक्षण सुप्रीमकोर्ट में जाके रद्द हो जाता है, क्योंकि धर्म के आधार पर नहीं हो सकता है। ओ.बी.सी. से शेड्यूल कास्ट बनना, शेड्यूल कास्ट से शेड्यूल ट्राइब में जाना, नहीं हो सकता। उसका एक वैज्ञानिक-संवैधानिक तरीका है, जो समाज-वैज्ञानिकों को मालूम है। नेता लोगों को तो मालूम नहीं है।

आज समाजशास्त्रियों के सामने दो बड़ी जिम्मेदारियां हैं। पहला - समाज का सच सामने रखना, खासतौर पर स्त्री-विमर्श, जाति-विमर्श और वर्ग-विमर्श के बारे में । ये राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया के परिणाम हैं। इसमें क्या शुभ है, क्या अशुभ है? इस पर चुप्पी है। दलित इलीट भी बोलना नहीं चाहता। वीमेन इलीट की सुनवाई नहीं है। शेड्यूल कास्ट का और शेड्यूल ट्राइब का इलीट तो कहीं दिखाई ही नहीं पड़ता। आख़िरी रामदयाल मुंडा थे।

सच को सामने रखने के अलावा दूसरी जिम्मेदारी है कि जो चुनौतियां हैं, जो कॉण्ट्राडिक्सन हैं, जो तनाव के बिंदु हैं, पॉइंट्स ऑफ़ टेंशन हैं; उनके बारे में लिख-लिख करके, आँख में उंगली डालकर के दिखलाना कि अगर दूरदृष्टि नहीं लगाओगे, चुनाव के आगे नहीं देख पाओगे तो आने वाली पीढ़ियाँ सज़ा भुगतेंगी जैसे पर्यावरण प्रदूषण का हाल है ऐसा ही सामाजिक अराजकता का भी माहौल बन सकता है। बहुत से देशों में ऐसा हुआ। सोवियत रूस में, यही हुआ। ज़रा-सी सरकार की लगाम ढीली हुई, पेरेस्त्रोइका और ग्लास्तनोस्त के दौर में; सेना की ताक़त से सजी, विज्ञान की शक्ति से विभूषित सोवियत यूनियन देखते-देखते बारह टुकड़ों में टूट गया- चार इसाई देश, चार मुस्लिम देश, चार बौद्ध देश। भारत की एकता को, भारत की प्रगति को, भारत के लोकतंत्र को समाजशास्त्रियों को बहुत सहानुभूति लेकिन सतर्कता के साथ देखना है। ये कोई अमिट लकीर नही है। इसी देश में उन्नीस महीने लोकतंत्र स्थगित रहा, विश्वविद्यालय चलते रहे, विद्वान् पढ़ाते रहे, अखबार निकलते रहे। अगर इंदिराजी ने चुनाव नहीं कराया होता तो हम लोग पता नहीं आज इस तरह की सभा कर पाते कि नहीं

कर पाते। तानाशाही की तरफ एक बार जो देश फिसले तो बीस-बीस बरस लगा, इंडोनेशिया को, ब्राजील को, अर्जेंटीना को, मलेशिया को। और चीन तो आज तक लोकतंत्र की तरफ नहीं लौट पाया।

इसलिए समाजशास्त्री मित्रों, आपकी पूछ तो नहीं है लेकिन अब आज पूछ है किसकी? प्लानिंग-कमीशन ही ख़त्म हो गया। प्लानिंग का पर्चा ही ख़त्म हो गया इकोनॉमिक्स डिपार्टमेंट में। इतिहासकारों की कोई मानता ही नहीं है। अगर वे कहें कि वहां मंदिर था तो कहेंगे हिन्दू सांप्रदायिक है, अगर कहेंगे कि मंदिर नहीं था तो कहेंगे कि मुस्लिम साम्प्रदायिक है, ये लेफ्टिस्ट है, ये राईटिस्ट है। पोलिटिकल साइंस वाले ना इधर के हैं ना उधर के हैं। जो राजा बना उसी का बाजा बजाने लगते हैं। कल तक नेहरू-नेहरू हो रहा था आजकल नरेन्द्र-नरेंद्र हो रहा है, कल किसका होगा पोलिटिकल साइंस वालों को भी नहीं मालूम। हम सोशियोलॉजी वाले तो अपनी जगह टिके हुए हैं क्योंकि जाति टिकी हुई है, परिवार है, विवाह है, राष्ट्र है, आन्दोलन है, गतिशीलता है, गतिहीनता है, शोषण है, असमता है। ये जो समाज के सच हैं, ये राजाओं की मर्जी से बनने-बिगड़ने वाले नहीं हैं। इसमें समाज की सत्ता है, सर्वोच्चता है और उसको हम समाजशास्त्री के रूप में अपनी ज्ञानसाधना का विषय मानते हैं। मंथरा ने कैकई को भरमाने के लिए कहा था कि 'कोई नृप होउ हमें का हानि, चेरी छोड़ अब होब कि रानी'। लेकिन वो बात समाजशास्त्रियों के लिए बिलकुल ठीक है। राजा कोई बने हमारी कोई पूछ नहीं होने वाली है लेकिन समाज से हम जुड़े रहें, उनका सच लिखें। बहुत सी किताबें आई और गयीं लेकिन योगेन्द्र सिंह का 'मॉडर्नाइजेशन ऑफ़ इंडियन ट्रेडिशन ' और श्रीनिवास का 'सोशल चेंज इन मॉडर्न इंडिया' आज भी बिना पढ़े ना आप आई.ए.एस. हो सकते हैं और ना प्रोफ़ेसर हो सकते हैं, क्योंकि उन्होंने निष्पक्ष भाव से लिखा था। आइये हम उस परम्परा को बचाएं, बनाएं और बढायें।

आनंद कुमार, सेवानिवृत आचार्य, सामाजिक व्यवस्था अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविघालय, नई दिल्ली, anandkumar1@hotmail.com

पारुल सिंह, सहायक आचार्य, समाजशास्त्र राजकीय कला कन्या महाविघालय, कोटा, spparulsingh@gmail.com